Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.shisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2024 SHISRRJ | Volume 7 | Issue 1
ISSN : 2581-6306
doi : https://doi.org/10.32628/SHISRRJ

धर्म की विशुद्ध भारतीय अवधारणा

डा. श्रुति राय
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली

Article Info
Publication Issue :
January-February-2024
Volume 7, Issue 1

Page Number : 37-41

Article History
Received : 01 Feb 2024
Published : 08 Feb 2024

शोधसार- यह सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा में धर्म की अवधारणा आरम्भ से अन्तर्निहित है, विशेषकर ऋग्वेद तथा उसकी अनुगामिनी स्मृति परम्परा में। ऋग्वेद में यह अवधारणा आस्था के अर्थ में नही है, धर्म प्राकृतिक नियम है, अपने स्वभाव को धारण किये रहना धर्म है। मनुष्य का भी धर्म है- मानवीय स्वभाव को धारण किये रहना। मानवीय धर्म का तात्पर्य है कि हमारे कर्तव्यों का पालन हम तटस्थ होकर करें तथा अधिकारों की सीमा वहां तक है, जिस सीमा से पहले तक दूसरे व्यक्ति को कष्ट न हो। ध्यातव्य है कि स्वाधिकार की व्याख्या भी धर्म के बिना संभव नही है। अत: मनुष्य अपने धर्म से विमुख न हो, इसका सुनिश्चितीकरण धर्मशास्त्र करता है। यही मूल्य विशुद्ध भारतीय परम्परा का उत्स है। इस शोधपत्र में विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से शास्त्रसम्मत धर्म को समझने का प्रयत्न किया गया है।

कूट शब्द- धर्म, शास्त्र, रिलीजन, विद्या, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति।

सामयिक परिप्रेक्ष्य में धर्म एक ऐसा शब्द है, जिसकी व्याख्या रिलीजन तक सीमित हो गयी है। प्राय: लोग इसी अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। समस्या यह है इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग करने पर धर्म का विशुद्ध भारतीय स्वरुप छुप जाता है। तात्पर्य यह है कि विशुद्ध भारतीय ज्ञान परम्परा में स्थापित धर्म की अवधारणा रिलीजन से बिल्कुल भिन्न है। धर्म मानवप्रधान न होकर सृष्टिप्रधान है। रिलीजन के अन्तर्गत व्यक्तिगत आस्था के आधार पर एक विशेष देवी-देवता, पूजा का निश्चित स्थान तथा एक निश्चित धर्मग्रन्थ होता है। जबकि धर्म के अन्तर्गत सृष्टि में रहने वाले जड-चेतन सबका समावेश हो जाता है। सभी धर्म से संचालित हैं, सभी धर्म से नियन्त्रित है। अत: भारतीय परम्परा में धर्म प्रधान है, तथा रिलीजन उसका सहायक तत्त्व हैं। रिलीजन स्वयं में एक सीमित दृष्टि है, अत: धर्म का एकभाग ही रिलीजन हो सकता है। इसके अतिरिक्त रिलीजन एक्सक्लूसिव है, जबकि धर्म औल-इन्क्लूसिव है। इस अर्थ में रिलीजन सीमित है, धर्म अत्यन्त व्यापक अवधारणा है।

भारतीय संस्कृति में धर्म के विभिन्न अर्थ प्रचलित हैं, इनमें से कुछ प्रमुख अर्थ इसप्रकार हैं- धार्मिक क्रिया कलाप, धारण करना, स्वभाव, कर्तव्य , वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित कर्तव्य, अभ्युदय और नि:श्रेयस् का साधन, वैदिक विधि वाक्य, वेद मे कहे गये वाक्य, वेदानुगामिनि स्मृति, ब्राह्मणत्वादि शील, साधुओं के आचार आदि ये सब धर्म के मूल हैं। ये सारे शब्द धर्म की अलग अलग अवधारणाओं को जन्म देते हैं, किन्तु ये अवधारणाएं एकदूसरे की पूरक हैं। धर्म के स्वरूप

Copyright © 2024 The Author(s): This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution **4.0 International License (CC BY-NC 4.0)** which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium for non-commercial use provided the original author and source are credited.

की विविधताएं उसका वैशिष्टय है, जो भारतीय जनमानस के सन्दर्भ में उसकी व्यापकता तथा महत्ता स्थापित करते हैं, लेकिन इसी विभिन्नता के कारण धर्म के स्वरूप को समझने में समस्या भी आती है। इसी क्लिष्टता के कारण महाभारत के शान्तिपर्व के एक प्रकरण में ऋषि गावल धर्म के इसी स्वरूप पर नारद से प्रश्न करते हैं–

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा।

शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम्[1]-शान्तिपर्व, 287.10

इनका कथन है कि शास्त्र यदि एक होता तो श्रेय की प्राप्ति का उपाय भी एक ही होने के कारण यह स्पष्टरूप से समझ में आ जाता, परन्तु बहुत से शास्त्रों ने नानाप्रकार से वर्णन करके श्रेय को गुह्य अवस्था में पहुचा दिया है–उसे अत्यन्त गूढ बना दिया है। इसीप्रकार का चिन्तन स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर भी करते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर स्वयं धर्म के पुत्र हैं, धर्म के श्रेष्ठतम पालक हैं, धर्म के स्वरुप पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए उसकी महिमा बताते हैं साथ ही उसको जानना उसकी व्याख्या करना कितना मुश्किल है, यह भी बताते हैं। वह कहते हैं कि धर्म ही प्राणियों की सृष्टि करते हैं, धर्म ही उनके जीवन–धारण और उद्धार में कारण होते हैं, परन्तु धर्म को केवल वेदों से नही जाना जा सकता है।[2] जो मनुष्य अच्छी स्थिति में है, उसका धर्म दूसरा है, और जो संकट में पडा हुआ है, उसका धर्म दूसरा है। अतः केवल वेदों के पाठ से आपद्धर्म का ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि इस लोक मे देखा जाता है कि कितने ही प्राकृत मनुष्य धर्म से दिखायी देने वाले अधर्म का आचरण करते हैं और कितने ही अप्राकृत (शिष्ट) पुरुष अधर्म प्रतीत होने वाले धर्म का अनुष्ठान करते हैं, अतः केवल आचरण से धर्माधर्म का निर्णय नही हो सकता है[3]। **महाराज** युधिष्ठिर कहते हैं कि हम धर्म को जानते या नही जानते हैं, धर्मस्वरूप जाना जा सकता है या नही,किन्तु इतना तो हम अवश्य समझते हैं कि धर्म छूरे की धार से भी सूक्ष्म और पर्वत से अधिक विशाल एवं भारी है–**विद्म चैवं न वा विद्मे शक्यं वा वेदितुं न वा।**

धर्म के विषय में जब आलोचना की जाती है, तब पहले वह गन्धर्वनगर के समान दिखायी देता है, फिर विद्वानों द्वारा विशेषरूप से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वह अदृश्य हो गया।

अणियान् क्षुरधारायाः गरीयानपि पर्वतात्।[4]-260.12-शान्तिपर्व

गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदृश्यते।

अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम्॥[5]260.13-शान्तिपर्व

अतः कोई निश्चित मापदण्ड जो धर्म के स्वरूप को गणितीय आकडे के रुप में स्पष्ट करे, यह सम्भव नही है। विभिन्न मानवीय परिस्थितियों में धर्म के एक सर्वमान्य स्वरूप का निश्चय करना सरल कार्य नही है। आपद् परिस्थितियों में धर्म–अधर्म के मध्य की सीमा रेखा अत्यन्त दुर्बल हो जाती है। अतः धर्म के स्वरूप का निर्धारण करने के लिये शास्त्रसम्मत सिद्धान्तों को जानने की आवश्यकता है।

धर्म की अत्यन्त प्रसिद्ध परिभाषा महाभारत, शान्तिपर्व, 109 में दी गयी है, जो इसप्रकार है–

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 287.10
2. वही, 260.04
3. वही, 260.06
4. वही, 260.12
5. वही, 260.13

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

यस्माद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः[6]।

धर्म का नाम धर्म इसलिये पडा कि वह सबको धारण करता है–अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, वही धर्म है–ऐसा धर्मवेत्ताओं का कहना है। इसी पर्व में धर्म की और स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। तदनुसार–

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।

यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्मं इति निश्चयः[7]- शान्तिपर्व, 109.10

प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध होते हैं, वही धर्म है। ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का कहना है। मनुस्मृति में कहा गया है कि वेदों में जो कुछ भी कहा गया है, वह धर्म है। इसके अतिरिक्त–वेद मे कथित,वेदानुगामिनि स्मृति, ब्राह्मणत्वादि शील तथा साधुओं के आचार – ये सब धर्म के मूल हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म का साक्षात् सम्बन्ध वेद है, और वेद तथा उसकी अनुगामिनि स्मृति, ब्राह्मणत्वादि का शील जो वेदानुसार हो, अथा साधुओं का आचरा भी वेदानुकूल होना चाहिये। वही धर्म है। अतः आचरण भी वेदानुकूल होना चाहिये। वेदोक्त और स्मृति में कहे गये धर्म का अनुष्ठान करने से मनुष्य यश को प्राप्त करता है तथा धर्मानिष्ठानजन्य स्वकर्मादि के अनुकूल सुख को प्राप्त करता है[8]।अर्थ और काम में अनासक्त मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश किया जाता है[9]।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि धर्म का उपदेश या शिक्षा आवश्यक क्यों है? इसका उत्तर यह है कि सृष्टि में जितने भी जड–अजड पदार्थ हैं, उनसबका अपना अपना सुनिश्चित स्वभाव है, सभी अपने स्वभाव को धारण किये रहते हैं। यह स्वभाव धर्म है। धर्म की वृद्धि तथा ह्रास से पदार्थ का क्रमशः विकास तथा ह्रास होता है। अतः भारतीय अन्तर्दृष्टि में धर्म सम्पूर्ण सृष्टि का अन्तरंग स्वभाव है। मनुष्य तो मनुष्य हैं, पशुपक्षी, पेड–पौधे आदि समस्त जड पदार्थ भी धर्म की सीमा का उल्लंघन नही कर सकते हैं। वस्तुतः धर्म ब्रह्माण्ड की सीमा निर्धारित करता है। धर्म का त्याग अर्थात् स्व का त्याग है। क्या प्रकृति अपने प्रकृतित्व का त्याग कर सकती है? अग्नि का स्वभाव दहन करना है। यही इसकी सीमा भी है। क्या वह अपने दाहक शक्ति का त्याग कर सकती है? वायु की सीमा शीतल प्रवाह है, यही उसका स्वरूप भी है। क्या वायु प्रवाह का त्याग कर सकता है? तात्पर्य यह है कि धर्म वह है जो स्वाभाविक रुप से धारण किया जाये, यह कोई आरोपित वस्तु नही है। ठीक वैसे ही जैसे अग्नि में दाहक शक्ति कोई बाह्य गुण नही है। यही अग्नि का धर्म है। यह अग्नि का अन्तरंग स्वभाव है। इसप्रकार ब्रह्माण्ड के प्रत्येक तत्त्व का स्वभाव उसकी सीमा निश्चित करता है। उसका स्वभाव ही उसका धर्म है, जिसका त्याग कथमपि सम्भव नही है। तथापि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसके सन्दर्भ में धर्म की अनेकस्तरीय व्याख्या है, अतः मानवीय सन्दर्भ में 'धारण करने' का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। अतः मनुष्य के लिये शास्त्रसम्मत धर्म का ज्ञान

---

[6]. वही, 109.14

[7]. वही, 109.10

[8]. मनुस्मृति, 2.09

[9]. वही, 2.13

आवश्यक है। धर्म निश्चित नियम, व्यवस्था, सिद्धान्त तथा आचरण–नियम इन सभी का पर्याय है। यह एक नियामक तथा धारक तत्त्व है। धर्म का केन्द्र वेद है। धर्म का पालन करने से इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होता है। प्रकृति स्वनियन्त्रित एवं स्वानुशासित है, अत: अपने धर्म तथा कर्तव्यों का पालन अनायास करते हैं। किन्तु मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसे उसके कर्तव्यों का बोध कराया जाता है। अत: मनुष्य अपने धर्म से विमुख न हो, इसका सुनिश्चितीकरण धर्मशास्त्र करता है। ध्यातव्य है कि स्वाधिकार की व्याख्या भी धर्म के बिना संभव नही है। धर्मशास्त्रों में स्थापित वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत कर्तव्य, अधिकार के साथ साथ मनुष्य जीवन की सीमा का निर्धारण करती है। वर्णाश्रम व्यवस्था वेद की देन है। धर्म मनुष्य जीवन की सार्थकता का निम्नतम तथा उच्चतम सीमा निर्धारित करता है। स्पष्ट है कि धर्म की सीमा अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड धर्मचक्र में समा जाता है।

धर्म तथा अधर्म के ज्ञान के लिये शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है। कौटिल्य ने शास्त्रों को चतुर्विद्या के रुप में विभाजित किया है।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या:[10] – **कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रथम अधिकरण,द्वितीय अध्याय, पृ. 9**

आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) के अनुसार आन्वीक्षिकी, वार्ता, त्रयी, दण्दनीति–ये चतुर्विध विद्याएं हैं। **आन्वीक्षिकी** है– अध्यात्मविद्या अथवा हेतुविद्या। **त्रयीविद्या है-** ऋक्, यजु तथा सामवेदात्मक विद्या। **वार्ता है-** कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्यात्मक विद्या तथा **दण्डनीति** राजविद्या है। इन चतुर्विध **विद्याओंका विद्यात्व इसी बात में है कि उनसे धर्म और अधर्मका ज्ञान हो ।** अतएव इन चारोंके बिना न धर्म–अधर्मका और न इहलोक तथा परलोक की उन्नतिके साधनों का ही ज्ञान हो सकता है–

चतस्त्र एव विद्या इति कौटिल्य: । ताभिर्धर्माधर्मौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम् - [11]

इसप्रकार भारतीय दृष्टिकोण में धर्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करता है। वह बाह्य न होकर अन्तरङ्ग तत्त्व है। इस अन्तरङ्ग तत्त्व का ज्ञान वेदादि शास्त्रों से सम्भव है। धर्म से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. मनुस्मृति, चौखम्भा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2019
2. महाभारत (1–6 खण्ड), साहित्याचरण पण्डित, रामनारायण दत्त, शास्त्री पाण्डेय, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2017
3. मनुस्मृति (2 खण्ड), हरिगोविन्दशास्त्री, चौखम्भा कृष्णदास अकेदमी, दिल्ली, 2019
4. गौतम धर्मसूत्र, बाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2011
5. तैत्तिरीय संहिता, नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2005
6. विष्णुगुप्त (चाणक्य), कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, रामतेज शास्त्री, आर्यवर्त संस्कृति संस्थान, इलाहाबाद, 2022

[10]. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, पृ. 9

[11]. वही, पृ. 10

7. काणे, पांडुरंग वामन, अनुवादक-अर्जुन चौबे काश्यप, खंड-1-5, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्कारण, 1996,
8. हिन्दी विश्वकोश, खंड-2, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1975
9. Olivelle, Patrick & Donald R. Davis, JR., The Oxford History of Hinduism, A New History of Dharmashastra, Oxford University Press, Oxford, 2018
10. Olivelle, Patrick, A Dharma Reader, Classical Indian Law, E-book, Columbia University Press, 2016
11. Ambika, K.R., Reflections on Dharma, New Bharatiya Book Coporation, Delhi, 2017
12. Swain, Braja Kishore, The Voice of Verdict, A Study of Vyavahara-Dharma in Dharmashastra, Chaukhamba Publications, Delhi, 2007